eISSN 2581-8996
[Date]
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 1, Issue 01, Jan 2018

आजाद भारत में आदिवासी समाज और उनकी संस्कृति का एक अध्ययन

[1]डॉ0 कृपाल सिंह
[1]पूर्व शोधार्थी, मनोविज्ञान, एस0वी0 कालेज अलीगढ।

Received: 01 Jan 2018, Accepted: 15 Jan 2018 ; Published on line: 31 Jan 2018

Abstract

आजादी के 67 साल बाद भी भारत में आदिवासी उपेक्षित, शोषित और पीड़ित नजर आ रहे है। किसी भी राजनीतिक दल ने न तो अपने घोषणा पत्र में आदिवासियों की समस्याओं को उठाया और न ही कभी चुनाव अभियान में उनके हित की बात उठाई है। आदिवासी किसी भी राज्य या क्षेत्र विशेष में नहीं बल्कि पूरे देश में फैले हैं। आदिवासी समाज को आज आजाद भारत में सबसे अधिक वेदना झेलनी पड़ रही है। आज भारत में आदिवासी कहीं पर नक्सलवाद से जूझ रहे हैं, तो कहीं पर अलगाववाद की आग में जल रहे हैं।

मुख्य शब्दावली– क्रान्तिकारी, स्वतन्त्रता, सैद्धान्तिक, देशभक्ति, ब्रिटिसराज, देशी राज्य।

प्रस्तावना

आज भारत में आदिवासी कहीं पर नक्सलवाद से जूझ रहे हैं, तो कहीं पर अलगाववाद की आग में जल रहे हैं। जल, जंगल और जमीन को लेकर इनका शोषण निरंतन होता चला आ रहा है। देश के लगभग आठ करोड़ से अधिक आबादी वाले इस आदिवासी समाज को वर्तमान राजनीतिक पार्टियां केवल अपने वोट बैंक को कायम रखने के लिए एक झूठी परमपरा कायम कर रही है जो इस समाज के लिए अत्यन्त ही घातक है।

भारतीय समाज में आदिवासियों को सदा ही हाशिए पर रखा गया है। अंग्रेजों ने आदिवासियों पर जितना अत्याचार किया है, आजाद भारत के तथाकथित साधन सम्पन्न समाज आज उससे भी अधिक अत्याचार आदिवासयिों पर कर रहा है। आदिवासियों के ऊपर हो रहे अत्याचारां को भारत

सरकार खत्म करने की कोई चेष्टा नही कर पाई और न कर रही है। आदिवासी समुदायों को इस तरह से नजर–अंदाज करके सरकार नक्सलवाद को पनपने के लिए जमीन प्रदान कर रही है।

देश के सुदूर अंचलों में, घने जंगलों में, पहाड़ों पर रहते हुए अन्य नागरिकों को प्राप्त सख–सुविधाओं से अनभिज्ञ अधिकांश आदिवासी आधुनिक प्रगति से दूर, पहले से भी बदतर जिंदगी जीने के लिए अपमान और यातना सहने के लिए मजबूर हैं। आखिर कौन सी मजबूरी या डर है, जिसके चलते आज भी आदिवासी समाज को विकास की मुख्य धारा से जोड़ने का प्रयास नही किया गया ?

आज के वैश्वीकरण, बाजारीकरण, निजीकरण, उदारीकरण, सूचना और प्रौद्योगिक, उत्तर–आधुनिकता, तकनीकी, और आधुनिकीकरण के इस युग में यदि कोई समाज विकास की मुख्य धारा से जुड नही पाया तो वह आदिवासी समाज हैं। भारत में आदिवासी समाज आज भी सबसे अधिक पिछड़ा और उपेक्षित है। आदिवासियों का शोषण महाजन, पूँजीपति, सरकारी कर्मचारी, अधिकारी तथा पुलिस कर्मचारी के साथ–साथ राजनेता करते आ रहे हैं। भूमण्डलीकरण और बाजारवाद के आगमन से एक ओर आर्थिक विकास के दिखावटी महल तैयार हुए, आर्थिक प्रगति के लिए नारे लगाये जा रहे हैं, जिसके फलस्वरूप बढ़ती आबादी और तथाकथित पूँजीवादी घर की बढोतरी ने आदिवासियों को हाशिए पर लाकर खड़ा कर दिया है। आज उनके जंगल सिकुड़ते जा रहे है। कुछ लोगों के स्वार्थ हेतु, बाजारवाद की आँधी ने पूँजीवादी दौलत का जो प्रपंच रखा है उसने भूमि–पुत्रों को विस्थापित करने के लिए और हाशिए पर रहने के लिए मजबूर कर दिया है।

भारत वर्ष में मिजोरम, नागालैंड, मेघालय जैसे छोटे–छोटे राज्यों में 80 से 92 प्रतिशत तक आबादी आदिवासियों की है। बड़े राज्यों में मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, बिहार, झारखंड़, गुजरात, राजस्थान, छत्तीसगढ़ जैसे राज्यों में आदिवासियों की आबादी 8 से 23 प्रतिशत तक है, पर सभी स्थानों पर ये हाशिए पर है।

भारत सरकार द्वारा सदा ही उपेक्षित और वर्तमान समय में भूमण्डलीय पूँजी के विस्तार एवं बाजारवाद के चलते आदिवासी समाज आज कहीं नक्सलवाद तो कहीं अलगाववाद का शिकार समय–समय पर होता रहता है। आदिवासियों का शोषण महाजन, पूँजीपति, सरकारी कर्मचारी, अधिकारी, पुलिस, नेता, माफिया सभी करते आ रहे हैं। बाजारवाद और अमेरिकी विकास मॉडल का आगमन, जल परियोजनाओं के कारण, विस्थापन, औद्योगीकरण के नाम पर विस्थापन, सुरक्षा परियोजनाओं के नाम पर विस्थापन, जंगल को सुरक्षित करने का नाटक रचकर आदिवासी समाज

को विस्थापित करने की रणनीति आज भी कायम है। सरकारें – राज्य एवं केन्द्र – दोनों ने आदिवासी समाजो को उनके परमपरागत अधिकारों से वंचित करने की हर कोशिश को कायम रखा है।

आज के आलोचक, संपादक, विमर्षकार जिस प्रकार स्त्री–विमर्श, दलित विमर्श की समस्याओं, अल्पसंख्यकों की समस्याओं को साहित्य की मुख्यधारा में लाने के लिए तत्पर दिखाई दे रहे हैं अगर उसकी एक चौथाई भी वे आदिवासी समाज की समस्याओं पर कलम चलाते तो, इस समाज को आज हाशिए पर नहीं जाना पड़ता। बडी शर्म की बात है कि भारत में सबसे अधिक संख्या में बोली एवं समझी जाने वाली भाषा हिन्दी के लेखकों, आलोचकों, संपादकों ने भी आदिवासियों को सदा दरकिनार किया है।

सन 1951 में देवेन्द्र सत्पथी का 'रथ के पहिए' आदिवासी समाज पर लिखा गया पहला उपन्यास है, जिसमें मध्यप्रदेश की गोंड जनजाति की गाथा है। यह उपन्यास पढ़ने के बाद पता चलता है कि आज भी किस तरह आदिवासी समाज उपेक्षित है। यह उपन्यास आदिवासियों के जीवन और लोकाचारों की इतनी जिन्दा और प्रमाणिक तस्वीर पेश करता है कि आँख से आसूँ टपकडने लगते हैं।

अघोषित रूप से बाजारवाद भारत में 1980 से लागू होता है और घोषित रूप से 1990 से। अतः 1990 के बाद से समकालीन हिन्दी उपन्यासों में खासकर गैर आदिवासी लेखकों का झुकाव आदिवासी समाज संस्कृति और उनकी समस्याओं को केन्द्र में रखकर हिन्दी भाषा के लेखकों ने आदिवासी समाज की समस्याओं को लेकर सजग हुए हैं कुछ लेखक। समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन की व्यथा–पीड़ा, उत्पीडन, शेष, संघर्ष, त्याग, योगदान तथा इस समाज की वर्तमान समस्याओं, इनकी दयनीय हालत को संवेदना के साथ अभिव्यक्ति मिली है।

समकालीन आदिवासी जीवन पर केन्द्रित हिन्दी उपन्यासों में जंगल जहाँ से शुरू होता है, 'पॉव तले की दूब', 'जंगल के फूल', 'समर शेष हैं', 'अल्मा कबूतरी', 'डूब', 'जहाँ बाँस फूलते है', 'पठार पर कोहरा', 'वनतेरी सहराना', 'जंगल के आसपास', 'काला पहाड', 'रेत', 'भारत बनाम इडिया', 'सु–राज', 'जो इतिहास में नही है', 'कगार की आग', 'मौसी', 'ग्लोबल गाँव के देवता', 'गायब होता देश', 'रह गयी दिशाऐं इसी पार' आदि उल्लेखनीय हैं ।

इन उपन्यासों में उपन्यासकारो ने यह दिखाया है कि किस प्रकार बाजारवादी नीति एवं अमेरिकी विकास मॉडल ने बचे हुए आदिवासी समाज को हाशिए पर लाकर खड़ा कर दिया है । 'काला पादरी' उपन्यास में उपन्यासकार तेजिन्दर ने यह दिखाया है कि किस प्रकार मध्य प्रदेश के

महेशपुर जैसे असंख्य गांवों में धर्म परिवर्तन करने वाले आदिवासियों के ऊपर किस प्रकार के अत्याचार हो रहे हैं, इस उपन्यास पर अपना मत जाहिर करते हुए उदय प्रकाश कहते हैं – ''मध्य प्रदेश के गहन आदिवासी क्षेत्रों में घटित होती घटनाओं और जंगलों के पास साँस लेते जीवन का इतना गहन विवरणात्मक, संवेदनशील और सूक्ष्म आंकलन समकालीन कथा साहित्य की एक विरल उपलब्धि हैं।'1

मध्य प्रदेश में आदिवासियों की हालत बड़ी भयानक एवं दर्दनाक है। भूख के चलते इनकी मौत होती है। 'काला पदरी' उपन्यास में यह दिखया गया है कि– ''आदिवासी पिछले कई दिनों से जहरीली जंगली बूटियाँ खा रहे हैं और जिले के भीतरी इलाके में कुछ लोग अपनी भूख मिटाने के लिए बिल्लियों और बंदरों का शिकार कर, उनका माँस तक खा रहे हैं।''2 प्रस्तुत उपन्यास में हम पाते है कि चर्च, राजनेता, मुख्यमंत्री सभी केवल आदिवासी समाज को ठगते हैं।

'धार' उपन्यास में किस प्रकार भारत के आदिवासी समाज को जनजाति से अभिहित किया गया है, और हिन्दू धर्म के समर्थकों ने उन्हें 'वनवासी' की संज्ञा प्रदान कर दिया है। किस प्रकार आदिवासी समाज को हाशिए पर ले जाने के लिए एक नयी नीति को अपनाया गया है विकास के लिए 'सावधान नीचे आगे है' में कोयला खदानों में मजदूरी करने वाले आदिवासी के संघर्षशील, भयावह, असुरक्षित, शोषित जीवन को चिन्हित किया है। 'जंगल जहाँ से शुरू होता है' में संजीव ने बिहार के चम्पारण जिले की जनजाति को केन्द्र में रखकर उनको किस प्रकार समाज उपेक्षित कर रहा हैं, लडकियों को बेचने तक के लिए किस प्रकार मजबूर कर रहा है, इन सारे हालातों का वर्णन किया है। आखिर आदिवासी डाकू क्यों बना – ''पहले चीनी मिल बंद हुई, फिर खेत बंधक हुए, मेहरारू मरन सेज पर और बेटी को सॉप ने डँसा। मकान कहाँ, जमीन गई, कहाँ जायँ, क्या खायँ, कहाँ रहें, हक की कमाई मांगने पर ठेकेदार के पास पैसे नहीं है। क्या वह इन ठेकेदारां के यहाँ बेगार करने के लिए पैदा हुआ है।

डाकुओं के निर्माण में यही भूमिका है, फिर ये आते हैं जमींदारों के पास, मिल के सेठों के पास। जबरन वसूली बलात्कार, दमन इनकी ट्रेनिंग नही मिलती है। कुछ दिन बाद ये स्वतन्त्र रूप से खुद के लिए यही करते हैं और डकैत बन जाते है। नाम कर गये, प्रभाव क्षेत्र का विस्तार हो गया तो मंत्री लोगो के काम करने लगते हैं – जबरन चंदा वसूली, पार्टी फण्ड, बूथ कैप्चरिंग, लठौती।''3

श्री प्रकाश मिश्र का उपन्यास 'जहाँ बाँस फूलते हैं' मिजोरम की निजो जनजाति एवं लुशाई पहाड़ियों पर रहने वाली आदिवासी जाति को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। मनमोहन पाठक ने 'गगन घटा घहरानी'' में झारखंड के पलामू जिले के ओरॉव आदिवासी समाज में जो शोषण, अभाव,

eISSN 2581-8996
[Date]
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 1, Issue 01, Jan 2018

अत्याचार होते आ रहे हैं, उन पर प्रकाश डाला है। मिजोरम के आदिवासियों के बीच शिक्षा–विकास जनतंत्र तथा राष्ट्रवाद कोई मायने नही रखते हैं। एक ज्वलंत प्रश्न इन सिीतियों में जीने वाले लोग संविधान, समाज और राजव्यवस्था के सामने बार–बार उठा रहे हैं। मनमोहन पाठक ने 'गगन घटना घहरानी' उपन्यास में जंगल में शोषित और संघर्षशील जीवन जीने वाली ओरांव जाति के पिछड़ेपन, भूख एवं दयनीय समस्याओं को दिखाया है। राय बहादुर जैसे सामंती लोग केवल सपने दिखाई हैं। भगवान दास मोरवाल का 'रेत' जो सन 2008 में प्रकाशित हुआ, इस उपन्यास में लेखक ने कंजर जाति के उस जीवन को उद्घाटित किया हैं, जहाँ कामुकता है, जुगुप्सा है तो स्तब्ध करने वाली मार्मिक परमपराएं और बंधन भी हैं। कंजर जनजाति सभ्य समाज की दृष्टि से अस्पृश्य, घृणित, पतित है। इस जाति का अपना एक इतिहास है, संस्कृति है, यह स्त्री–प्रधान संस्कृति वाली जाति है। वेश्यावृत्ति इस जाति का पेशा है, पर इस जनजाति का अपना कानून तथा रिवाज भी है जिनसे वे बंधे रहते हैं। इस जनजाति की स्त्री पूरी तरह स्वतंत्र है। मात्र इनकी जिंदगी दूसरों के लिए मुट्ठी भर रेत है। देह को माध्यम बनाकर अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए आज भी सभ्य समाज की औरतें जो कुछ नही कर पा सकती उसे उपन्यास की प्रधान पात्रा रूक्मिणी कर पाती है। वह अनपढ है परंतु मुरली जैसा घाघ राजनीतिज्ञ उसका शोषण नही ंकर पाता है। 'रेत' उपनयास में भगवान दास मोरवाल ने कंजर और अन्य जनजातियों का शोधात्मक चित्रण किया है। इस उपन्यास में वैद्ध जी नामक पात्र कंजर जाति की स्त्रियों का जीवन सुधारने का प्रयास करता है, दलदल से बाहर निकालने का प्रयास करता है। कंजर जाति की स्त्री भले ही वेश्या व्यवसाय करती है परन्तु शोषित कदापि नहीं है।

राकेश कुमार सिंह का उपन्यास 'महारण्य में गिद्ध' – 2008 में बिहार और झारखंड के ग्रामीण और आदिवासी जीवन की विसंगतियों और त्रासदियों को उद्घाटित करता है। उपन्यास का केन्द्र बिन्दु झारखंड का वह अरण्य है जहाँ के राजा जंगल के मूल निवासी है। वे झारखंड मुक्ति के लिए संघर्ष करते हैं परंतु व्यवस्था की तरफ से विकास के नाम पर कोई भी काम नही किया जाता है। शहर के ठेकेदार पुलिस और प्रशासन जंगल को बरबाद कर रहे हैं और आदिवासी जंगल को बचाने के लिए संघर्ष करते हैं। ददुआ मानकी पत्रकार अजय जोशी को अपने जंगल की वास्तविकता उजागर करते हुए कहता है – ''देखते हो न जोशी बाबू कैसे पहाड़ को बरबाद करके रख दिया है इन दो नंबरी ठेकेदारें ने ... ।' जंगल के मूल निवासियों में जागृति आ गई है। इसलिए वे जंगल को नष्ट नही होने देते, तभी तो ददुआ कहता है,'' अरे कितने दिन जिएँगे हम लोग ? कितने आदिवासी

eISSN 2581-8996
[Date]
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 1, Issue 01, Jan 2018

का जीने देगी यह सरकार ? एक दिन ऐसा जरूर आएगा, जोशी बाबू कि हमारे जंगल का आखिरी पेड़ भी कटवा लेगी सरकार। उसी दिन देश–दुनिया को पता चलेगा कि खदान कारखाने का माल आम आदमी का पेट नहीं भर सकता। रूपया चबाकर नहीं जीता आदमी। आदमी का पेट भरता है अन्न–पानी से सो मिलेगा इसी जंगल से।'5

'पाँव तले की दूब' (1995) उपन्यास में संजीद ने झारखंड में बढ़ते औद्योगिकीकरण के चलते विस्थापित आदिवासी समाज के यथार्थ को चित्रित किया है। ''फिलीप की यह धरती हमारी सोना उगलती है और इस सोने की धरती की हम कंगाल संतान है।''6 आदिवासी समाज व्यवस्था मातृ सत्तात्मक होने के कारण नारी का सम्मान करती है। आज की आदिवासी नारी संघर्षरत होकर अपने अधिकार के लिए विद्रोही बनी है, यह चेतना का प्रमाण है। 'कब तक पुकारूँ' में इज्जत लूटने पर बॉके के खिलाफ कंजरी द्वारा संघर्ष करना, 'सूरज–किरण की छाँव' मतें पति से तलाक लेने वाली बंजारी बंजो। अंग्रेजों के खिलाफ संगठन करने वाली 'वन के मन' में गोनों–प्रथा के खिलाफ विद्रोह करने वाली भील जिनकी बनवासी में बिन्दू द्वारा धर्मान्तरण करके मनचाहे बेजोड के साथ विवाह करना, जंगल के फूल, शैलूश, जंगल के आसपास में जमीन पर अधिकार के लिए संघर्ष करना, जंगलों पर अधिकार बनाना, ठेकेदारों की मनमानी को रोकना इससे लगता है कि वह अपने हक, अधिकार के लिए संघर्ष कर रहे हैं। परन्तु पूँजीपति उसे कुचल रहे हैं। मैना कहती है – ''चारो तरफ भेड़ए गुर्रा रहे हैं। वे हमें खा जाने पर आयकर हैं, हमें ध्यार की जरूरत है। सतत समा जो ताजा होती धारा।''7 'पाँव तले की दूब' में भूख से, कुपोषण से मरते हुए जनजाति समाज को दिखाया गया है। वे किस तरह समाज की मुख्य धारा से विस्थापित हो रहे है। इसके पीछे किसकी साजिश हैं, इसे भी दिखाया गया है।

निष्कर्ष–

आदिवासी समाज स्वास्थ्य के बारे में अज्ञानी होने से कुपोषण का शिकार हो रहा है। आदिवासी मजबूरी एवं भुखमरी में जीवन बिताते है। 'सावधान नीचे आग है' उपन्यास में पेट की आग को मिटाने के लिए संथाल आदिवासी शिकार करते है। 'सावधान नीचे आग है' उपन्यास में पूँजीपतियों द्वारा आदिवासियों के शोषण का वर्णन संजीव ने किया है। चंदनपुर कोयला खदान के आर्थिक स्वार्थ से अंधे बने खदान मालिक किस प्रकार शोषण कर रहे हैं, इसका चित्रण है। खदान में काम करते समय जब बोअर होल से पानी निकल आता है तो खदान में पानी का जोर बढ़ने के कारण सामने आती मौत को देखकर आदिवासी सोमारू कहता है – ''स्सलों, हम बोलते रह गये कि हम काम नही करेंगे,

eISSN 2581-8996
[Date]
THE INTERNATIONAL JOURNAL OF ADVANCED RESEARCH IN MULTIDISCIPLINARY SCIENCES (IJARMS)
A BI-ANNUAL, OPEN ACCESS, PEER REVIEWED (REFEREED) JOURNAL
Vol. 1, Issue 01, Jan 2018

मगर साले ने गुल्ली की ढँसनी ही दी और चमचे पाठकराम ? क्या मिला तुमको चमचागिरी करके। खुद तो गये ही ले गये हजार और बेकसूर आदमियों को।''8 इस प्रकार इस उपन्यास में आदिवासी अरण्यमुखी समाज, सस्कृति और उनके अज्ञान गरीबी के कारण भुखमरी तथा कुपोषण से जूझता जीवन का यथार्थ है। पर भारत के इन सपूतों की इस हालत के लिए आखिर कौन जिम्मेदार है ? आजादी के आन्दोलन में योगदान देने वाले इन सपूतों को क्या हाशिय पर भेजा जा रहा है ? आदिवासी प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के रक्षक हैं पर आज आजाद भारत में वे क्यों हाशिए पर लाकर खड़े कर दिये गये ? आज के आधुनिक भारत (साइनिग इडिया) में आदिवासी समाज को क्या प्राप्त हुआ है ? जिस आदिवासी संस्कृति, भाषा, साहित्य, बोलियों की दुलाई देकर विश्वविद्यालयों में शोध कार्य हो रहे हैं और तथाकथित आयोग की स्थापनाएं होती हैं, क्या वे पूरी ईमानदारी से कार्य कर रहे हैं ? आजाद भारत की सरकार को जरा भी शर्म नहीं आती कि जहाँ एक बहुत बड़ी आबादी पेट की आग बुझाने के लिए दो समय की रोटी के लिए तड़प रही हैं, रोजगार का कोई प्रबंध नहीं है, पर सरकार आदिवासी बस्तियों, पहाड़ों पर प्रसाधन गृह बनवाकर दे रही है। आज भी आदिवासी समाज जंगलों में दर–दर की ठोकरें खाते नजर आ रहे हैं। कभी सरकार द्वारा विकास के नाम पर, तो कभी बाजारी नीति के चलते।

संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1. 'काला पादरी', तेजिन्दर
2. वही
3. जंगल जहां से शुरू होता है, संजीव, पृ.– 105,
4. विमर्श के विविध आयाम, डा. अर्जुन चव्हाण, पृ. 213, वाणी प्रकाशन 1990
5. संवेद पत्रिका, 2008, पृ. 29
6. पांव तले की दूब, हंस, सितम्बर 1996, पृ. 76
7. धार, संजीव, राधाकृष्णन प्रकाशगण, 1990, पृ. 195
8. सावधान ! नीचे आग है, संजीव पृ. 167